शोध मंथन Vol. XVI No.2 Apr.- June. 2025 ISSN: (P) 0976-5255 (e) 2454-339X
Available at: https://anubooks.com/journal-volume/shodhmanthan-vol-xvi-june-2025-no2

समकालीन दर्शन में भाषा विश्लेषण की प्रवृत्तियाँः एक दार्शनिक समीक्षा

प्राप्तिः 05.03.2025
स्वीकृतः 22.04.2025

39

डॉ. ज्योति पांडेय
शोध छात्रा (दर्शनशास्त्र)
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
ईमेलः jyoti.s.pandey1993@gmail.com

सारांश

विश्लेषणात्मक दर्शन को भाषा विष्लेशण के नाम से जाना जाता है, जिसकी विशेषता यह रही है कि इसमें साधरण भाषा को विश्लेषण के आधार के रूप में स्वीकार किया जाता है।

विश्लेषणवादी दार्शनिक दर्शन की सभी विधाओं तथा अन्य विज्ञानों में प्रयुक्त भाषा के विश्लेषण को ही दर्शन का एकमात्र उद्देश्य मानते हैं। यह दर्शन की चिंतन पद्धति का मानकर भाषा विश्लेषण की एक क्रिया मानते हैं। दर्शन वह क्रिया है जो कथनों की व्याख्या करता है।

इस शोध पत्र में यह देखेंगे कि किस प्रकार समकालीन दर्शन में भाषा–विश्लेषण की शुरूआत होती है। धार्मिक भाषा की मूल समस्या पर पाश्चात्य दर्शन में ग्रीक युग से लेकर समकालीन युग तक किस प्रकार विचार विमर्श किया गया है। हालाँकि ऐतिहासिक दृष्टि से मूल प्रश्न बीसवीं शताब्दी का प्रश्न है जिसे तार्किक प्रत्यक्षवादी दार्शनिकों ने उठाया था। इस सदी के दर्शन को भाषायी मोड़ का नाम दिया गया है। इस शोध पत्र के अन्तर्गत मर रसेल, विट्गेन्स्टाइन, शिल्क, कार्नेप, एयर, ऑस्टिन, राइल आदि के विचारों की व्याख्या एवं परीक्षा की गयी है। जहाँ एक ओर परंपरागत दर्शन में यह माना जाता है कि दर्शन का कार्य जीवन एवं जगत् की समस्याओं का समाधान करना है साथ ही सत्यता की खोज करना है, वही दूसरी ओर विश्लेषणात्मक दर्शन में यह स्वीकार किया जाता है कि जीवन एवं जगत् कही समस्याओं को सुलझाना तथा सत्यता की खोज करना विज्ञान का कार्य है, दर्शन का नहीं। दर्शन का कार्य तो इन सिद्धान्तों को प्रस्तुत करने वाली भाषा का स्पष्टीकरण करना अथवा उनका विश्लेषण करना है। विट्गेन्स्टाइन लिखते हैं कि सम्पूर्ण दर्शन भाषा की आलोचना मात्र है, यदि हम दर्शन की समस्या को सुलझाना चाहते हैं तो हमें भाषा को सुलझाना होगा। यही से भाषायी दर्शन यह विश्लेषणात्मक दर्शन की शुरूआत होती है। अपनी इसी मान्यता के कारण दर्शन सिद्धान्त (तत्वमीमांसा) या चिंतन पद्धति न होकर मात्र क्रिया है।

मुख्य बिंदु

विश्लेषणात्मक दर्शन, भाषा विश्लेषण, तार्किक प्रत्यक्षवाद, साधारण भाषा दर्शन,

https://doi.org/10.31995/shodhmanthan.2025.v16i02.39

भाषा–विश्लेषण की शुरुआत

पहले तो यह की दार्शनिकों के लिए भाषा का विश्लेषण कोई नई क्रिया नहीं है। यद्यपि विश्लेषण की शुरुआत को ग्रीक दर्शन से ही हो जाती है, यथा सुकरात जब अपनी दार्शनिक गवेषणा में इस प्रकार के प्रश्न पूछता था– न्याय क्या है? ज्ञान क्या है? उसे भाषा विश्लेषणात्मक के रूप में लिया जा सकता था, परंतु यहाँ उसका मुख्य उद्देश्य सम्प्रत्ययात्मक था। इसी प्रकार प्लेटो अपनी पुस्तक "रिपब्लिक" में लिखते हैं कि–"जब भी अनेक विशेष वस्तुओं का एक सामान्य नाम होता है, तो हम मानते हैं की उनमें इसके अनुरूप एक प्रत्यय या आकार नहीं रहता है"। अरस्तु का दर्शन भी मूल रूप से कारण, गति, जानना आदि शब्दों की परिभाषा से संबंधित (भाषिक विशेषता के विश्लेषण पर ही आधारित) है। ए. जे. एयर के अनुसार, यह दिखाया जा सकता है कि जिन्हें महान दार्शनिक समझा जाता है, उनमें से अधिकतर मूलतः तत्वमीमांसक नहीं बल्कि विश्लेषक थे।[1] इस संबंध में एयर ने लॉक, बर्कले, डेविड ह्यूम, हॉब्स, बेंथम, मिल, प्लेटो, अरस्तु और कांट का उदाहरण दिया है। परन्तु ग्रीक दर्शन में विश्लेषण का प्रयोग केवल साधन के रूप में नहीं हुआ इसलिए इसे शुद्ध रूप से भाषायी विश्लेषण नहीं कहा जा सकता, जबकि विश्लेषी दर्शन का महत्व इस बात में है कि वह दर्शन को मात्र विश्लेषण मानता है।

भाषा में दार्शनिक रुचि जो पहले से चली आ रही थी, बीसवीं शताब्दी में बढ़ जाती है। इसी कारण रिचर्ड रॉटरी ने इस सदी के दर्शनों को भाषाई मोड़ या भाषाई झुकाव का नाम दिया। भाषा के प्रति रुचि एवं इसके प्रयोग की चर्चा समकालीन दर्शन के गुण या विशेषताएँ हैं। इस युग की विशेषता यह है कि इसमें सभी प्रकार के दार्शनिक समस्याओं का तार्किक विश्लेषण प्रस्तुत किया जाता है। जैसे– तार्किक प्रत्यक्षवाद, विश्लेषणात्मक दर्शन, साधारण भाषा दर्शन एवं उत्तर–आधुनिकतावादी आदि। रिचर्ड रॉटरी लिखते हैं कि दार्शनिक समस्याएं ऐसी समस्याएं हैं जिनका समाधान या तो भाषा में सुधार करके किया जा सकता है या वर्तमान में जो प्रयोग करते हैं उस भाषा के बारे में अधिक ज्ञान प्राप्त करके किया जा सकता है।

बीसवीं शताब्दी में दर्शन का भाषा के प्रति झुकाव के दो मुख्य कारण रहे हैं। पहला, समसामयिक दार्शनिक चिंतन की नींव विज्ञान एवं गणित पर (विट्गेन्स्टाइन एवं एयर का दर्शन गणित द्वारा प्रभावित तो कार्नेप एवं पॉपर के दर्शन मुख्यता विज्ञान पर) आधारित है। दूसरा, इस युग के विश्लेषी दार्शनिक इस पर सहमत हैं कि तत्वमीमांसीय कथन निरर्थक बिंदु है। चूंकि तत्वमीमांसीय कथन को वैज्ञानिक विधि द्वारा सत्यापित नहीं किया जा सकता, इसलिए तत्वमीमांसीय कथन निरर्थक है। तत्वमीमांसा की समस्याएँ वास्तविक नहीं है, बल्कि छद्म समस्याएँ हैं, अब सत्य की खोज को विज्ञान द्वारा परिभाषित किया गया, वही दर्शन अर्थों की खोज से संबंधित रहा। शुरू का लक्ष्य सत्य और ज्ञान, सद्गुणों एवं नैतिक मूल्यों की खोज नहीं रहा बल्कि यह भाषा की समालोचना विश्लेषण तार्किक वाक्य विन्यास का स्पष्टीकरण एवं भाषा के अर्थविज्ञान तक सीमित रह गया।

तार्किक प्रत्यक्षवादी दार्शनिक श्लिक कहते हैं। "Philosophy is that activity whereby the meaning of statements is established or discovered. Philosophy elucidates propositions, and science verifies them. In the latter we are concerned with the truth of statements, but in the former

with what they mean that the work of philosophy does not——asserting propositionsß[2] अर्थात् दर्शन वह क्रिया है जिसके द्वारा वाक्यों और कथनों का अर्थ अभिव्यक्त एवं सुनिश्चित होता है, दर्शन कथनों की व्याख्या करता है जबकि विज्ञान उसे सत्यापित करता है। विज्ञान का संबंध कथनों के सत्य होने से है और दर्शन का संबंध उनके वास्तविक अर्थ से। यह समझना सरल है कि दर्शन का कार्य किसी प्रकार के वक्तव्य देना नहीं है'। कार्नेप के अनुसार भी विज्ञानों के प्रत्ययों तथा वाक्यों के तार्किक विश्लेषण को दर्शन का स्थान ले लेना चाहिए। वे लिखते हैं–'^Philosophy is to be replaced by the logic of science that is to say by the logical analysis of the concepts and sentences of the sciences for the logic of science is nothing other than the logical syntax of the language of scienceß[3] अर्थात् दर्शनशास्त्र को विज्ञान की तर्क प्रणाली द्वारा प्रतिस्थापित किया जाता है, अर्थात विज्ञान के सिद्धांतों और वाक्यों का तर्कपूर्ण विश्लेषण किया जाता है, क्योंकि विज्ञान की तर्क प्रणाली विज्ञान की भाषा के तर्कसंगत संरचना के अलावा कुछ और नहीं है।

कार्नेप की पुस्तक 'Logical Syntax and Language'(1935) तथा एयर की 'Language] Truth and Logic' (1936) ने भाषा विश्लेषण के क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

जहाँ लॉक ज्ञानमीमांसा का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं। वहीं बर्कले तत्वमीमांसा के प्रत्ययवादी सिद्धांत की स्थापना करते हैं, पर वह जब द्रव्य का खंडन अथवा प्रत्यक्ष की विवेचना करते हैं तो स्पष्ट हो जाता है कि वे दार्शनिक विश्लेषण का ही कार्य कर रहे हैं। ह्यूम कारणता का खंडन न करके एक प्रकार का विश्लेषण ही प्रस्तुत करते हैं। विश्लेषण अथवा स्पष्टीकरण ही दर्शन का उपयुक्त अंग है, यह सिद्धांत डेविड ह्यूम की कृति "An Enquiry Concerning Human Understanding" से होता है। वहाँ वह कहते हैं– "If we take in our hand any volume of divinity or school metaphysics, for instance, let us ask, does it contain any abstract reasoning concerning quantity or number? No, does it contain any experimental reasoning concerning matter of fact and existence? No, commit it then to the flames; for it contains nothing but sophistry and illusion-"[4] अर्थात् "यदि हम धर्मशास्त्र अथवा तत्वमीमांसा की कोई पुस्तक लेते हैं, तो हमें यह पूछना चाहिए कि क्या इसमें परिणाम या संख्या से संबंधित कोई अमूर्त चिंतन है? नहीं। तो क्या इसमें वस्तु तथ्य या अस्तित्व संबंधी कोई प्रायोगिक चिंतन है? नहीं। तो इसे आग में जला दो क्योंकि इसमें कुतर्क और भ्रम के अतिरिक्त कुछ नहीं हो सकता है। एयर, हयूम, बॅथम आदि दार्शनिक के विषय में कहते हैं कि इन सभी का दार्शनिक चिंतन मूलतः विश्लेषणात्मक ही है।

सामान्यतः ऐसा माना जाता है कि विश्लेषणात्मक दर्शन की शुरुआत समकालीन विशलेषी दर्शन के जनक जी.ई.मूर के दर्शन से होती है लेकिन मूर विश्लेषण का प्रयोग भाषा विश्लेषण के अर्थ में न करके संप्रत्ययों के विश्लेषण के अर्थ में करते है। वे अपने लेख"। Reply to my Critics" में लिखते हैं– "जब भी मैंने विश्लेषण की चर्चा की है, मैंने किसी शाब्दिक पद के विश्लेषण की नहीं बल्कि किसी विचार अथवा संप्रत्यय या प्रतिज्ञप्ति के विश्लेषण की बात की है।"[5]

यद्यपि यह सत्य है कि अर्थ सम्प्रत्ययात्मक होता है परंतु विश्लेषण सम्प्रत्ययात्मक न होकर भाषाई होता है। उनकी रुचि प्रणाली में नहीं थी। मूर ने यह भी नहीं माना कि दर्शन मात्र विश्लेषण है या कि विश्लेषण केवल शब्दों एवं वाक्यों का हैं।[6]

शोध मंथन Vol. XVI No.2 Apr.- June. 2025 ISSN: (P) 0976-5255 (e) 2454-339X, Impact Factor 8.877 (SJIF)
https://doi.org/10.31995/shodhmanthan.2025.v16i02.39

मूर अपने लेख "A reply to my Critics" में लिखते हैं कि मैं भाषा का विश्लेषण नहीं करता हूँ केवल प्रत्ययों का विश्लेषण करता हूँ। मूर के अनुसार विश्लेषण के अंतर्गत दो पक्ष होते हैं, पहला विश्लेष्य (जिसका विश्लेषण किया जाता है) तथा दूसरा विश्लेषक (जिसके द्वारा विश्लेषण किया जाता है)। मूर मानते हैं कि जब विश्लेष्य व विष्लेषक दोनों सम्प्रत्ययात्मक दृष्टि से एक ही हो परंतु अभिव्यक्ति के स्तर पर दोनों पृथक–पृथक हो, तो इसे ही विश्लेषण कहते हैं, जैसे भाई का विश्लेषण है– 'सहोदर भाई' अर्थात, 'भाई सहोदर भाई' है। यदि सम्प्रत्यय के साथ–साथ भाषा भी समान हो जाए तो उसे मूर "विश्लेषण का विरोधाभास कहते हैं।[7] जैसे यह न कहकर कि 'भाई सहोदर भाई' यह कहा जाये की 'भाई भाई है। उसके अनुसार विश्लेषण एक वाक्य का अन्य सरल वाक्य में अनुवाद हैं। परन्तु मूर के विश्लेषण में कई विसंगतियाँ है, पहले तो यह की विश्लेषण का अर्थ होता है भाषा विश्लेषण मूर के अनुसार भाषा दर्शन का एक व्यापार है स्वयं दर्शन नहीं है। इसी प्रकार आलोचकों के अनुसार मूर अर्थ व विश्लेषण में कोई अंतर नहीं करता है और दोनों को सम्प्रत्यय से संबंधित कर देता है। यद्यपि यह सत्य है कि अर्थ सम्प्रत्ययात्मक होता है परंतु विश्लेषण सम्प्रत्ययात्मक ना होकर भाषारसह होता है, इसीलिए जॉन पॉसमोर अपनी पुस्तक "A Hundred years of Philosophy" में लिखते हैं कि "मूर एक अच्छा प्रश्न कर्ता परंतु बुरा उत्तरदाता था।"[8]

इसलिए यह माना जाता है कि विश्लेषण की शुरुआत रसेल के दर्शन से होती है। रसेल के अनुसार दर्शन का कार्य भाषा का विश्लेषण करना है, क्योंकि दर्शन जगत की भ्रांतियों का मूल कारण हमारी साधारण भाषा ही है। इसलिए रसेल साधारण भाषा की विसंगतियों जैसे अर्थ की अनिश्चितता व भाषा के व्याकरणिक आकार एवं तार्किक आकार की अस्पष्टता के कारण आदर्श भाषा का प्रयोग की बात करते है।

रसेल के अनुसार हमारी साधारण भाषा में कई विसंगतियाँ हैं, पहला यह कि इसके अर्थ अनिश्चित द्वयर्थक एवं दुर्बोध है। रसेल के अनुसार साधारण भाषा की दूसरी कमी यह है कि यहाँ पर भाषा का व्याकरणिक आकार एवं तार्किक आकार स्पष्ट नहीं होता है। इन्हीं मान्यताओं के परिपेक्ष्य में रसेल का कहना है था कि दर्शनशास्त्र के लिए एक ऐसी भाषा की आवश्यकता है जिसका अर्थ सुनिश्चित एवं असंदिग्ध हो। ऐसी भाषा को प्रतीकात्मक भाषा या आदर्श भाषा की संज्ञा देता है। आदर्श भाषा में केवल प्रतीकों का प्रयोग होता है जिसका अर्थ पूर्णतः सुनिश्चित एवं असंदिग्ध होता है।

विट्गेन्स्टाइन भी विश्लेषण (किसी न किसी रूप में) स्वीकार करते है। रसेल का मानना था की विट्गेन्स्टाइन का उद्देश्य भी साधारण भाषा के स्थान पर आदर्श भाषा की स्थापना करना था। अपने पूर्ववर्ती अवस्था ट्रैक्टेटस में स्वयं लिखता है कि दर्शन भाषा की आलोचना मात्र है (Philosophy is the critique of language- Tractatus 4.0031)। पुनः वह लिखता है कि हमारी साधारण भाषा मानव शरीर का अंग है और उससे कम जटिल नहीं है।

भाषा का काम है विचारों को व्यक्त करना परंतु वह विचारों को छुपा लेती है। ठीक वैसे ही जैसे वस्त्र का उद्देश्य शरीर का प्रदर्शन न होकर उसके आकार को ढकना है (Tractatus–4.002)। जबकि अन्य व्याख्या के अनुसार विट्गेन्स्टाइन के सरल वाक्य, निरीक्षणात्मक वाक्य है। किन्तु दोनों ही मत असंगत है क्योंकि उनका उद्देश्य न तो साधारण भाषा का विकल्प निर्मित करना था, ना ही

उनके वाक्य निरीक्षणात्मक वाक्य है। लेकिन विट्गेन्स्टाइन ट्रैक्टेटस में विश्लेषण की बात करता है, जिससे अर्थ के निश्चितता हो सके। अर्थात् ट्रैक्टेटस का उद्देश्य है भाषा की सार्थकता की शर्तें निर्धारित करना। उनके अनुसार भाषा सत्ता का चित्र है, भाषा सरल तर्क वाक्यों की समग्रता है उस वाक्य का अर्थ वह वस्तुस्थिति है जिसका वह चित्र हैं। इस प्रकार विट्गेन्स्टाइन के अनुसार साधारण भाषा जैसी है ठीक है। "हमारी बोलचाल की भाषा के सभी तर्कवाक्य के जिस रूप में भी है, पूर्णतया ठीक है" (All propositions of colloquial language] as they are] actually in order- Tractatus–5. 563)। किन्तु साधारण भाषा की जटिलता के कारण उसका तार्किक आकार स्पष्ट नहीं होता, इस कारण वह वाक्यों के विश्लेषण पर बल देता है। विट्गेन्स्टाइन अपने भाषा सिद्धांत के अंतर्गत कहते है कि– "Names are the ultimate constituents of language. Name make up elementary propositions, correspondingly objects makeup states of affairs, which makeup the world, the world thus consists in the totality of facts-[9] अर्थात् भाषा सरल तर्कवाक्यों की समग्रता है और सरल तर्कवाक्य तथ्यों का चित्रण करते हैं।

इसी प्रकार वह जगत का विभाजन तथ्य अथवा वस्तुस्थिति में करता है और तथ्यों का विभाजन वस्तुओं में। इस प्रकार भाषा की सरलतम इकाई नाम होते हुए भी सार्थकता की सरलतम इकाई सरल तर्कवाक्य है और सरल तर्कवाक्यों की समग्रता ही भाषा है। इसी प्रकार यद्यपि वस्तु ही जगत की सरलतम इकाई है परंतु सार्थकता की सरलतम इकाई तथ्य ही है, जो वस्तुओं से बनते हैं। अतः वह कहता है 'जगत तथ्यों की समग्रता है वस्तुओं की नहीं (The World is totality of facts, not a things- Tractatus 1.1) और इस प्रकार जब तक सरल वाक्य मित्र नहीं जाते विश्लेषण की प्रक्रिया चलती रहती है।

विट्गेन्स्टाइन भाषा एवं जगत के मध्य संबंध स्थापित करता है। उसके अनुसार नाम का अर्थ वस्तु है और वस्तु ही इसका अर्थ है (The name fis an object and object is its meaning, Tractatus–3.203)। जिस प्रकार प्रत्येक नाम के अनुरूप कोई ना कोई वस्तु अवश्य होती है उसी प्रकार सरल तर्कवाक्य किसी न किसी तथ्य को अवश्य ही सूचित करता है। जो क्यों वस्तुस्थिति के चित्र नहीं है वै वाक्य निरर्थक है। अपनी इसी मान्यता के आधार पर वह धार्मिक कथन, नैतिक कथन को निरर्थक कहता है।

परन्तु अपने परवर्ती अवस्था में विट्गेस्टाइन लिखते हैं कि दर्शन का कार्य भाषा की सार्थकता की शर्तें निर्धारित करना नहीं है। बल्कि उसके प्रयोग को बताना है। इसलिए जॉन विजडम लिखते है "अर्थ मत पूछो, उसके प्रयोग को पूछो" (Don't ask for the meaning, ask for the Use)''[10]।

ऑक्सफोर्ड परंपरा के दार्शनिक ऑस्टिन ने मूलतः साधारण भाषाई व्यवहारों को एवं प्रयोगों को अपने विश्लेषण का आधार बनाया। साधारण भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन को भाषाई प्रपंचवाद कहा है। वह लिखते है कि शब्द ही हमारे उपकरण है और कम से कम हमें स्वच्छ उपकरणों का प्रयोग करना चाहिए (What are our tools and as a minimum @ we should use clean tool)[11]। इस परंपरा के दार्शनिक साधारण भाषा को दार्शनिक आधार मानने के लिए तर्क देते हैं। पुनः ऑस्टिन के अनुसार शब्दों के हमारे भंडार में वे सब कुछ अंतर्निहित थे इसलिए ऑस्टिन ने संप्रत्ययों को अपने

https://doi.org/10.31995/shodhmanthan.2025.v16i02.39

लेखों "How to do things with words" में अनेक परिभाषित शब्दों की व्याख्याएं दी है। उनकी मान्यता थी कि किसी भी साधारण भाषा जैसे अंग्रेजी में एक प्रकार के कार्य के लिए अनेकों ढंग के भाषाई कथनों का प्रयोग होता है। विश्लेषण के द्वारा समस्या को देखने की नई दृष्टि उभर सकती है। ऑस्टिन को लगता था कि भाषा–विश्लेषण के प्रयास के फलस्वरूप एक ऐसे व्यापक भाषा–विज्ञान का उदय हो जो दर्शनशास्त्र से स्वतंत्र शाखा के रूप में उभर सके।

गिल्बर्ट राइल ने भाषा के साधारण प्रयोगों के आधार पर ''Concept of Mind" में मानसिक संप्रत्ययों के तर्कीय स्वरूप एवं संबंधों का स्पष्टीकरण किया है तथा मन–शरीर संबंध की समस्या के समाधान हेतु व्यावहारिक समाधान प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार स्ट्रॉसन ने "Individual मैं व्यक्ति के सम्प्रत्यय का अध्ययन कर एक विशेष दार्शनिक द्विपक्षीय सिद्धांत प्रस्तुत किया है।

मूल्यांकन

प्रश्न उठता है कि क्या दर्शन को केवल वैज्ञानिक कथनों तक सीमित किया जा सकता है। रसेल और विट्गेन्स्टाइन जैसे दार्शनिकों ने भाषा के सार्थक विश्लेषण की आवश्यकता पर बल दिया, लेकिन यह भी स्वीकार किया कि कुछ कथनों का विश्लेषण औपचारिक विधियों से नहीं किया जा सकता। साधारण भाषा दर्शन के समर्थक, जेसे जे0एल0 ऑस्टिन और पी0एफ0 स्ट्रॉसन, ने भाषा के साधारण उपयोग पर जोर दिया, जिसमें अर्थक के बजाय वाक्य के प्रयोग और व्याख्या पर ध्यान दिया जाता है।

विट्गेन्स्टाइन का सिद्धान्त ''अर्थ मत पूछो, प्रयोग पूछो'' ने भाषा दर्शन में एक महत्वपूर्ण बदलाव लाया। उन्होंने यह तर्क दिया कि भाषिक अभिव्यक्तियों का अर्थ उनके संदर्भ में निहित होता है, न कि तत्वमीमांसीय धारणाओं में। उनके अनुसार, भाषा का विश्लेषण करने के बजाय उसके वास्तविक उपयोग देखना चाहिए। इस प्रकार, यह स्पष्ट होता है कि भाषा विश्लेषण की प्रक्रिया दार्शनिक चर्चाओं का एक प्रमुख हिस्सा बन गई है, लेकिन इसे दर्शन की एकमात्र विधि के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

लेकिन क्या केवल भाषा–विश्लेषण के आधार पर सत्ता के सम्बन्ध में कुछ कहा जा सकता है? वस्तुतः भाषा का अपना कोई स्वतंत्र, सार्वभौमिक, प्रागनुभविक आकार नहीं होता। भाषा का प्रयोग अपने विश्वासों को व्यक्त करता है, न कि यह सत्ता के स्वरूप को। यहाँ यह कहना उचित होगा कि भाषिक विश्लेषण के साथ ही अतिभाषिक साक्ष्य भी महत्वपूर्ण है।

सन्दर्भ

1. Ayed, A.J., " Language, Truth & Logic, Dover Publications INC, New York, Pg. 52.
2. Mortiz Schlick, The Turning Point in Philosophy, p.56 In A.J. Ayer (1959), Logical Positivism (Ed.) The free Press, New York, Pg. 53-59.
3. Rudolf Camap (1973), Logical Syntax of Language, Humanities, New York (in Fore Word).
4. Hume, David (1948): An Enquiry Concerning Human Understanding, Section 12 to the Academical or Sceptical Philosophy, Pg. 3.

5. Schilp, P.A. (1982): The philosophy of G.E. Moore (Ed.) Tudor, New York, Pg. 661.
6. G.E. Moore, " A Reply to my critics" in the philosophy of G.E. Moore, ed. By P.A. Schilp, Pg. 25
7. Schilpp. P.A. (1982): The philosophy of G.E. Moore (Ed.) Tudor, New York, Pg. 663-65.
8. Passmore, John, (1968), " A Hundred Years of Philosophy." Penguin Books, Blatimore, Pg. 206
9. Wittgenstein, Ludwig 1922. ' Tractatus Logico-Philosophicus'. Routledge & Kegan Paul, Pg. 35.
10. Wisdom, John (1952), 'Ludwig Wittgenstein', mind, LXI, Pg. 258
11. Austin, J.L. (1979), 'A plea for Excuses in Philosophical papers, Oxford University Press, Oxford, Pg. 181.